International Journal of Research in Economics and Social Sciences (IJRESS)
Available online at: http://euroasiapub.org
Vol. 7 Issue 7, July- 2017
ISSN(o): 2249-7382 | Impact Factor: 6.939 | Thomson Reuters Researcher ID: L-5236-2015

उपनिषद् व् वेद साहित्य में यक्ष

डॉ सुदेश कुमारी असिस्टेंट प्रोफेसर, (संस्कृत-शिक्षण)

ज्ञान भारती, कॉलेज ऑफ एजुकेशन, इन्द्री (करनाल)

प्राचीन साहित्य के विश्लेषण से विदित होता है कि भारतीय लोक में यक्ष जाति एक प्रमुख जाति थी । वैदिक संहिताओं में 'यक्ष' शब्द 'पूजा' व 'यज्ञ' के संदर्भ में आया है । इसके अतिरिक्त यह शब्द ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, गृह्यसूत्रों , रामायण, महाभारत, पुराणों, जातककथाओं, जैन साहित्य तथा परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य में भी मिलता है ।

महाभारत-पाठ के अनुशीलन तथा कुछ आधुनिक विद्वानों के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है की 'यक्ष' एक जाति थी । यक्ष पाँच प्रमुख प्रजातियों में से किरात प्रजाति के अन्तर्गत आते है । इन पांच प्रजातियों का विभाजन विद्वानों ने शारीरिक संरचना के आधार पर इस प्रकार से किया है - 1. नीग्रो (Nigro) 2. आग्नेय (Austroloid), मंगोल जाति अथवा किरात (Mongoloid), 4. द्रविड़ प्रजाति (Dravid) और 5. आर्य प्रजाति (Nordic).

यक्ष जाति हिमाचल में अन्य किरावंशी जातियों अर्थात् गन्धर्व, वानर, ऋक्ष आदि के साथ रहती थी । यक्ष जाति की विशेषता यह थी कि यह सबसे पहले सभ्य हुई, क्योंकि जब अन्य जातियाँ शिकारी अथवा संग्रहकर्ता की स्थिति तक पहुँची थी, उस समय यह जाति संस्कृति के प्रथम पर पहुंच चुकी थी । यह जाति वृक्ष की विभिन्न उपयोगों से परिचित थी । यक्षाधिपति कुबेर को स्वर्ण व इसके उपयोग की जानकारी थी ।

इस प्रसंग में 'यक्ष' शब्द के विभिन्न अर्थ जानना आवश्यक है । 'यक्ष' को प्राचीन ग्रन्थों में मुख्य रूप से 'पूजा' व 'यज्ञ' के अर्थ में व्यवहृत किया गया है ।

ऋग्वेद में भी 'यक्ष' शब्द 'पूज्य' व 'यज्ञ' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । 'यक्ष' शब्द 'यक्ष' धातु में 'घञ' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। पौराणिक कोश के अनुसार 'यक्ष' एक प्रकार के देवता होते है जो कुबेर के सेवक और उसकी निधि के रक्षक होते है तथा इनकी आकृति विकराल होती है, यथा - पेट फूला हुआ, कंधे भारी और हाथ पैर घोर काले होते है ।

रामायण के अनुसार प्रजापति ने जल उत्पन्न किया और उसकी रक्षा के लिए सत्त्व बनाए । उनमें से कुछ ने 'यक्षाम:' का कर्त्तव्य अपना बताया । ऐसा कहने वाले 'यक्ष' हुए और जिन्होनें 'वयं' रक्षाम: का कर्त्तव्य किया वे राक्षस हुए ।

महाभारत में यक्षों की उत्पत्ति के विषय में कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता किन्तु हरिवंश-पुराण में उन्हें कश्यप व खशा से उत्पन्न हुआ कहा है तथा एक स्थान पर इन्हें पुलस्त्य की संतान कहा है ।

पद्मपुराण के अनुसार ब्रह्मा के पांचवें शरीर से यक्ष एवं राक्षस उत्पन्न हुए । इनकी कोई माता न थी, क्योंकि ब्रह्मा ने इन्हें अपने मन:सामर्थ्य से उत्पन्न किया था । उत्पन्न होते ही इन्होनें ब्रह्मा से पूछा 'हमारा कर्त्तव्य क्या है (किं कुर्म: फिर ब्रह्मा ने इन्हें कहा 'तुम' यज्ञ करो' (यक्षध्वम्) । इसी कारण इन्हें 'यक्ष' नाम प्राप्त हुआ ।'' महाभारत में यक्षों का सरोवर आदि के रक्षक के रूप में वर्णन हुआ है तथा कुबेर आदि प्रमुख यक्षों के सरोवरों का विशेष रूप से वर्णन मिलता है ।'' इससे संकेत प्राप्त होता है कि सम्भवत: यक्षों का 'जल' से कोई विशेष सम्बन्ध रहा होगा ।

केनोपनिषद् में देवों के अभिमान को समाप्त करने के लिए ब्रह्मा उनके सम्मुख अपनी योगमाया के प्रभाव से एक विशेष ही रूप में प्रकट हुए । परब्रह्म को देवता-गण न जान पाए कि यह यक्ष अर्थात् महान् प्राणी कौन है ?[1] उमा ने इन्द्र आदि देवों को उस पक्ष का ब्रह्मा के रूप में ज्ञान करवाया । कई उपनिषदों में औपनिषदिक ब्रह्मा के लिए यक्ष का विशेषण के रूप में बहुश: प्रयोग हुआ है । यह प्रयोग यक्ष को पुन: असामान्य भावात्मक पक्ष से सम्बद्ध करता है तथा वह वैदिक ब्रह्मयक्ष के साथ जाकर जुड़ जाता है जिसका वर्णन पहले भी हो चुका है जहाँ पहले अथर्ववेद में एवं बाद में अनेक उपनिषदों में ब्रह्म को 'महद्यक्ष' कहा गया है । जैसा कि यक्षों के भरहुत, साँची, अमरावती आदि से प्राप्त चित्रों में उनके मुख व उदर से लता कमल आदि को निकलते हुए एवं हाथ में पुण्य घट लिए हुए, मकर के मुख को खोलते हुए दर्शाया गया है, ये चित्र भी उनके वैदिक ब्रह्मा व जल से विशेष सम्बन्ध को इंगित करते हैं। महाभारत में भी यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद के प्रसंग में यक्ष को सरोवर के संरक्षक के रूप में दर्शाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म के प्रकट स्वरूप को ही विशिष्टता प्रदान करने के लिए यक्ष कहे जाने के कारण 'ब्रह्म-यक्ष' की परिकल्पना हो गई हो जिस ब्रह्मयक्ष की पुष्टि परवर्ती साहित्य से भी हो जाती है। **महाभारत** में भी 'ब्रह्ममह' उत्सव को मनाते दर्शाया गया है।[2] इसके अतिरिक्त **अथर्ववेद**[3] में भी ब्रह्म के लिए 'यक्ष' शब्द कई सन्दर्भो में प्रयुक्त हुआ है।

आदिपर्व में एक चक्रानगरी के लोग 'ब्रह्ममह' उत्सव मना रहे थे। यह वही 'यक्ष-उत्सव' प्रतीत होता है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद (VII. 56.16) में और बाद में जैन-साहित्य में 'जक्खमह' (आचारांग सूत्रण 2.12 एवं निशीथसूत्र 19.11) के नाम से हुआ है।[4] **बृहदारण्यकोपनिषद्**[5] में कहा

है–जो महान् यक्ष अर्थात् ब्रह्म को आदिजन्मा जानता है कि ब्रह्म सत्य है, वह विजय प्राप्त करता है।

मैत्रायण्युपनिषद् में यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच आदि को ग्रहों के रूप में निरूपित किया गया है।[6] **शिवोपनिषद्**[7] व **सामरहस्योपनिषद्**[8] के अनुसार यक्ष के उपासक सर्वदा त्याज्य हैं।

नादबिन्दूपनिषद् में वर्णन है कि प्रथमा तन्मात्रा में प्राणों का विसर्जन करके कोई भी सार्वभौम राजा, द्वितीय, तन्मात्रा में महात्मवान् यक्ष तथा इसी प्रकार तृतीया में विद्याधर एवं चतुर्थ में गन्धर्व के रूप में पुनर्जन्म प्राप्त करता है।[9] **योगतत्त्वोपनिषद्**[10] में भी यक्ष शब्द आया है। कठरुद्रोपनिषद् के अनुसार ब्रह्माण्ड के उदर से अपने–अपने कर्मो के अनुसार देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु व पक्षी उत्पन्न हुए।[11] **बिल्वोपनिषद्**[12] के अनुसार यज्ञ से पूर्व वृक्ष के वाम, दक्षिण तथा मध्य में ब्रह्मा, विष्णु व शिव को व्यवस्थित करना चाहिए व अन्त में यक्ष को।

5. वेदांगों में यक्ष–

वेदांग साहित्य में से निरुक्तकार यास्क एवं पाणिनि ने कहीं भी यक्ष पद का उल्लेख नहीं किया है। जबकि गृह्यसूत्रों व श्रोतसूत्रों आदि में यक्षों का उल्लेख प्राप्त होता है। **शांखायनगृह्यसूत्र**[13] व **कौषीतकिगृह्यसूत्र**[14] में भी यक्षों को तर्पण दिया गया है। **आश्वलायनगृह्यसूत्र** में यक्षों को देवों के साथ तर्पण अर्पित किया गया है।[15] बौधायनगृह्यसूत्र में भी इन्हें देवों के ही समकक्ष रखा गया है। एवं इन्हें आहुति प्रदान की गई है।[16] बौधयनगृह्यसूत्र में ही विवाहकाल के समय दी जाने वाली यक्षीबलि का वर्णन मिलता है।[17] मानवगृह्यसूत्र में यक्षों का देवों के साथ आह्वान किया गया है एवं उन्हें तर्पण भी अर्पित किया गया है।[18] यक्षों को सुन्दर एवं रूपवान माना गया है। मरुत– देवताओं की अपेक्षा यक्ष अधिक सुन्दर और शोभायुक्त होते हैं। इस बात की पुष्टि गृह्यसूत्रों से हो जाती है। गोभिल एवं द्राह्यणगृह्यसूत्रों में यक्षों को बहुत ही सुन्दर कहा है। कुछ गृह्यसूत्रों में हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि एक छात्र जो कि शिक्षा ग्रहण करने हेतु वैदिक–विद्या के आश्रम में आता है, आचार्य परिषद् के समक्ष यह इच्छा व्यक्त करता है कि वह यक्षों के समान सुन्दर दिखाई दे।[19] सम्भवत: यक्षों की सुन्दरता को देखते हुए ही बौद्ध कलाकारों ने भरहुत, सांची, अमरावती इत्यादि के वेदिका एवं तोरण स्तम्भों पर यक्षों को स्थान दिया हो, परन्तु कोशिकसूत्र में यक्षों को मर्कट, श्वापद, वायस एवं पुरुषरूप बताया गया है तथा इन्हें 'अशुभ–कर्त्ता' की कोटि में माना है।[20]

मनुस्मृति में यक्षों को पिशाच व राक्षसों की कोटि में रखा गया है एवम् अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें देवों से हीन कहा गया है।[21]

बृहद्देवता में इन्हें, 'पंचजनों, के अन्तर्गत माना है। शाकटायन के विचार से चार वर्गों (गन्धर्व, पितर, देव, यक्ष–राक्षस) के अंतर्गत यक्ष भी आते है।[22]

अथर्ववेदपरिशिष्ट में माणिभद्र यक्ष का नाम वर्णित है एवं देवचिन्तकों के शरीर में होने वाले उत्पातों से उत्पन्न भय का वर्णन मिलता है। जिसमें माणिभद्र आदि यक्षों एवं चित्रसेन आदि गन्धर्वो से प्रधान अमात्यों को होने वाले भय का भी वर्णन है।[23]

इस प्रकार वेदांगकाल में यक्षों को पूजनीय समझा जाता था एवं उन्हें हवि व तर्पण (यज्ञ-भाग) भी अर्पित किया जाता था। परन्तु उनके लिए पृथक् से कोई यज्ञ-विशेष आयोजित नहीं किये जाते थे। देव, गन्धर्व, राक्षस, विप्र, साध्य आदि के सामान्य हवि-प्रदान-प्रवाह में यक्षों को सम्मिलित कर उन्हें भी हवि दे दी जाती थी। कहीं-कहीं उन्हें सुन्दरता का आदर्श माना गया है। इसके साथ ही कुछ स्थलों पर यक्ष-सम्बन्धी निमित्तों को अशुभ भी माना गया है, जिसमें इनकी छवि ने कुछ अतिप्राकृतिक (असामान्य) सा स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार के उद्धरण बहुशः प्राप्त होते हैं जो यक्ष को पुनः असामान्य भावात्मक पक्ष से सम्बद्ध करते हैं।

इस प्रकार वैदिक-साहित्य के विश्लेषण से यक्षों के विषय में कई तथ्य उजागर हो जाते हैं-

(1) प्रथमतः संहिताओं में यक्ष पद 'यज्ञ', 'पूजा', 'धन', 'दान', 'सत्कार', आदि अर्थो में प्रयुक्त हुआ है एवं **ऋग्वेद (VII. 56.16)** में सर्वप्रथम जातिवाचक प्रयोग भी मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि यक्ष एक प्राचीनतम जाति रही होगी।

(2) इसके अतिरिक्त ब्रह्म के विशेषण के रूप में तथा आत्मा के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है जिससे उसकी विविधता, रहस्यात्मकता तथा अस्पष्टता का भान होता है।

(3) ब्राह्मण व आरण्यकों में यक्षों की पूजनीय छवि पूर्ववत् विद्यमान तो रही है परन्तु वे आश्चर्यजनक व क्रूर छवि को लेकर भी प्रकट होते हैं। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि महद् यक्ष की यक्ष की उपासना करने वाला उस जैसा ही हो जाता है अर्थात् तपस्या से यक्ष की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

(4) उपनिषदों में भी 'यक्ष' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के विशेषण जैसे सम्माननीय पद के लिए हुआ है तथा साथ ही उन्हें त्याज्य भी माना जाने लगा था एवं उनका राक्षस, भूतगण, पिशाच, उरग व ग्रह आदि से साम्य के रूप में भी निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि योगबल एवं कर्मफल के अनुसार कोई भी देव, दानव, यक्ष व मनुष्य आदि के रूप में जन्म प्राप्त कर सकता है।

(5) वेदांगों में यक्षों को सुन्दरता का आदर्श माना गया है एवं उनकों देवों के साथ यज्ञ आदि में आहुतियाँ व तर्पण भी अर्पित किया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह अत्यन्त समृद्ध व विकसित थे जिन्होंने देवों के मध्य अपना स्थान बना लिया था एवं साध्य ही अपनी सुन्दरता के कारण अनेक शताब्दियों में शिल्पियों की कला के विषय भी बनते रहे हैं। जिस यक्षोत्सव का उल्लेख संहिताओं व जैन साहित्य में हुआ है, वह आज भी कहीं न कहीं यक्ष-गान के रूप में विद्यमान है। यक्षगान एक प्रकार का नृत्य-नाटक **(Dance-drama)** है जो कर्नाटक के कन्नर (**Kannar**) जिले में मनाया जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि संभवत: यक्ष एक प्राचीनतम जाति रही होगी। प्रारम्भ में 'यक्ष' शब्द का अर्थ 'पूज्य' एवं 'यज्ञ' आदि गुणवाचक तथा साथ ही जातिवाचक भी प्राप्त होता है तथा अथर्ववेद आदि में आत्मा व ब्रह्म के विशेषण के रूप में मिलता है। ब्राह्मणों व आरण्यकों में उनका असामान्य-सा भावात्मक स्वरूप प्राप्त होता है व उनके विषय में दी जाने वाली पूजा व आहुतियों का वर्णन मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक-काल में 'पूजनीय अवस्था वाले जनसमुदाय' को यक्ष कहा जाता था। यह जाति संभवत: सामान्य जनसमुदाय से पृथक् व पर्वत आदि दुर्गम स्थलों पर निवास करती थी। अत: कुछ काल के उपरान्त उस जनसमुदाय का सामान्य जन में संपर्क न होने के कारण किसी भी असामान्य से भावात्मक पक्ष को प्रकट करने के लिए 'यक्ष' जाति से जोड़कर देखा जाने लगा होगा। वेदांग काल में इनके ये दोनों स्वरूप मिश्रित हो गए व एक जाति के रूप में उस जनसमुदाय का विकास होने लगा तथा देव, दानव, गन्धर्व आदि के साथ अर्धदेवों मे उनकी गणना होने लगी थी। तदुपरान्त औपनिषदिक काल तक वह जनसमुदाय विकसित होकर जाति का स्वरूप धारण कर चुका था व उनकी वह असामान्य सी छवि भी पूर्ववत् विद्यमान थी। वह जनसमुदाय समय के साथ-साथ अपने प्रारम्भिक 'यक्ष' नाम से ही जाति के रूप में विकसित हुआ जिसका वर्णन अवान्तर साहित्य (महाभारत, रामायण, बौद्ध-जैन व सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य) में प्राप्त होता है तथा उनके वंशज नेपाल आदि देशों में पाए भी जाते हैं।

संदर्भ:-

[1] केनोपनिषद् 111.2 त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।
तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूत तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।।

[2] महाभारत, 1.152.18

[3] द्र0 अथर्ववेद, X.2.29.33

[4] V.S. Agrawala : The Mahabharata- A Cultural Commentary, ABORI, Vol. XXXVII, Parts I-IV, 1956, Poona, pp. 25-26

[5] बृहदारण्यकोपनिषद्, V.4.1

[6] मैत्रायण्युपनिषद् VII.8

[7] 1) शिवोपनिषद् V.3

2) उपनिषद्-संग्रह, जे.एल.शास्त्री, दिल्ली, 1980, पृ. 337

[8] सामरहस्योपनिषद्, V.7

[9] नादबिन्दूपनिषद्, श्लोक 12-13

[10] योगतत्त्वोपनिषद्, श्लोक 110

[11] कठरुद्रोपनिषद् श्लोक 16

[12] बिल्वोपनिषद्, श्लोक 10

[13] शांखायनगृह्यसूत्र, IV. 9.3

[14] कोषीतकिगृह्यसूत्र, II. 5.1

[15] आश्वलायनगृह्यसूत्र, III.4.1

[16] बौधायनगृह्यसूत्र, III. 7.21

[17] वही, III. 1.5

[18] मानवगृह्यसूत्र, III.11. 29 एवं II.12.17

[19] गोभिलगृह्यसूत्र **III.4.28** : यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वा भूयासम्।

एवं द्राह्यणगृह्यसूत्र, **III.I.25** : उपेत्याचार्यं परिषदं प्रेक्षेद् यक्षमिव।

[20] कौशिकसूत्र, 9.5.1: अथ यत्रैतानि यक्षाणि दृश्यन्ते तद्यथैतन्मर्कट:

श्वापदो वायस: पुरुषरूपमिति तदेवमशंकामेव भवति। तत्र जुहुयात्।।

[21] मनुस्मृति, **XI. 96** : यक्षरक्ष: पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम्।

तद्ब्राह्मणेन नात्त्व्यं देवानामश्नता हवि।।

[22] बृहद्देवता, **VII.68-69 :** मनुष्या: पितरो देवा गन्धर्वोराक्षसा: ।

गन्धर्वा: पितरो देवा असुरा यक्षराक्षसा:।।

यास्कौपमन्यवावेतान् आहतु: पंच वै जनान्।

निषादपंचमान् वर्णान् मन्यते शाकटायन:।।

एवं बृहद्देवतानुक्रमणी, **VII- 68-69**

[23] अथर्ववेद-परिशिष्ट, 71.18.1-4